

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

वर्णाश्रम-धर्म प्रकरण

द्वितीये दिवसे चाद्य सत्रस्यास्यास्तु संस्कृतेः ।

उत्साहः संगतानां स संतोषः श्लाघ्यतां गतौ ॥ १ ॥

द्वितीयस्थ दिनस्याथ सत्रं शिक्षणदं शुभम् ।

प्रारब्धं बोधयन् सर्वान् विदुषोऽध्यक्ष आलपत् ॥ २ ॥

टीका—आज संस्कृति सत्र का दूसरा दिन सम्मिलित होने वालों का उत्साह और संतोष देखते बनता था। दूसरे दिन का सत्र शिक्षण आरंभ हुआ। सभी विद्वानों को संबोधित करते हुए सभाध्यक्ष कात्यायन बोले ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच

धर्मलग्नाः साधका हे भारतोत्पन्नसंस्कृतेः ।

विद्यते मेरुदंडस्तु धर्मो वर्णाश्रमानुगः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति चतुर्विधः ।

वर्णोऽस्ति संति चत्वार आश्रमाः क्रमशस्त्वमे ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यं गृहस्थो स वानप्रस्थोऽथ शोभनः ।

संन्यासश्चेति सर्वेऽपि परस्परगता इव ॥ ५ ॥

विभाजनमिदं देवसंस्कृतेरनुयायिभिः ।

स्वीकार्यं स महत्त्वं च विचार्यमपि संततम् ॥ ६ ॥

अस्योपयोगितायां तु सगांभीर्यं च गौरवे ।

अद्य मुख्यश्च जिज्ञासुरभूदारण्यको मुनिः ॥ ७ ॥

विशेषेण तमेवाथ संबोद्ध्याध्यक्ष उक्तवान् ।

कात्यायनो महर्षिस्तु ज्वलन् स ब्रह्मतेजसा ॥ ८ ॥

गुणकर्मस्वभावानामाधारेण विभाजनम् ।

वर्णानां भवति प्रायो जन्मना न महत्त्वगम् ॥ ९ ॥

कर्मकौशलं चैतन्मंतव्यः जन्मनैव चेत् ।

मन्यते कर्म नैव चेद् वंध्यवृक्ष इव स्मृतः ॥ १० ॥

महत्त्वेनाभियोज्याश्च सर्वे चत्वार एव तु ।

कर्तुं नियोजितामत्र व्यवस्थां तु समाजगम् ॥ ११ ॥

श्रेयः सम्मानमप्येते लभन्तां वर्णसंगताः ।

पुरुषा अत्र नो ग्राह्यो भावोऽयमुच्चनीचयोः ॥ १२ ॥

टीका—कात्यायन बोले हे धर्म परायण सद्ज्ञान साधको भारतीय संस्कृति का मेरुदंड वर्णाश्रम धर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम, जो परस्पर क्रमबद्ध हैं। देवसंस्कृति के अनुयायियों को, इस विभाजन को समुचित महत्व देना चाहिए और उनकी उपयोगिता-आवश्यकता एवं गरिमा पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। आज के प्रमुख जिज्ञासु मुनिवर आरण्यक थे, उन्हीं को विशेष रूप से संबोधित कर ब्रह्मतेज से दुर्धर्ष सत्राध्यक्ष कात्यायन ने कहा वर्णों का विभाजन गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर होता है। यह वर्गीकरण जन्मजात रूप में महत्वपूर्ण नहीं है। इन्हें कर्म-कौशल के अनुरूप समझा जाना चाहिए। यदि जन्म से किसी वर्ण में है, पर कर्म तदनुकूल नहीं है, तो वह बाँझ-वृक्ष के समान है। समाज-व्यवस्था को सुनियोजित रखने के लिए इन चारों को की महत्व मिलना चाहिए। इन सभी वर्णों के लोगों को समान-श्रेय सम्मान मिलना चाहिए। इनमें छोटे बड़े या ऊँच-नीच जैसे भेद-भाव नहीं बरतने चाहिए ॥ ३-१२ ॥

देवसंस्कृति को अनायास ही सर्वश्रेष्ठ होने का सुयोग नहीं मिला। इसके अंतर्गत हुए समाजपरक सभी निर्धारण ब्रह्मवर्चस् संपन्न दूरद्रष्टा ऋषियों की अन्वेषण बुद्धि के परिणाम हैं। ऋषिगणों ने वर्ण एवं आश्रम के रूप में समुदाय एवं वैयक्तिक जीवन का चार वर्गों में विभाजन किया है, वह सर्वकालीन, सार्वभौम एवं हर परिस्थितियों में सत्य की कसौटी

४.१० प्रज्ञोपनिषद्

पर उतरने वाला है। सुव्यवस्थित समाज, जिसमें सभी के लिए उनके कर्मों के अनुरूप उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया गया हो, सांस्कृतिक सुदृढ़ता एवं एकता के लिए उत्तरदायी है। यह पूर्व निर्धारित सुनियोजन देवसंस्कृति की ही विशेषता है। एवं इसी कारण यह मानवी गरिमा की ज्ञान-गंगा आदि काल से प्रवाहित होती चली आई है।

भारतीय धर्म को वर्णाश्रम धर्म कहा गया है। चार वर्णों से तात्पर्य है क्रिया-कलापों में उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए निर्धारण। चार आश्रमों से तात्पर्य है, आयुष्य का भौतिक एवं आत्मिक उद्देश्यों के लिए सुनियोजन। यह विभाजन बड़ा ही वैज्ञानिक, प्रगतिशील और उपयोगी रहा है। चार वर्णों में विभाजित ऋषि कालीन समुदाय एक आर्य जाति के सूत्र में आबद्ध था। सब आर्य थे और सबको समान अधिकार मिले हुए थे। यदि यह विभाजन ऊँच-नीच अथवा छोटे-बड़े के आधार पर हुआ होता, तो संभवतः समाज का कोई भी सदस्य इसे मानने को तैयार न होता। यदि जोर-जबरदस्ती के आधार पर किया गया होता, तो संभवतः विद्रोह पनप उठता एवं भयानक गृहयुद्ध होता। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि कात्यायन यहाँ समझाते हैं कि ऋषियों द्वारा स्थापित इस विज्ञान सम्मत वर्ण व्यवस्था का निर्धारण बड़ा सोच-समझकर सर्वसम्मत से हुआ था। इस सर्वसम्मत विधान को सारा समाज शिरोधार्य करता हुआ अपना कर्तव्य करता चला आया। वस्तुतः संस्कृति की यह सर्वश्रेष्ठ अवधारणा वर्ण-व्यवस्था सामाजिक विघटन का कारण नहीं है। इसका कारण तो वे विकृतियाँ हैं, जो वे कालांतर में उपद्रवों, आक्रमणों एवं सामाजिक अस्त-व्यस्तता के कारण उत्पन्न हो गई एवं मध्यकाल में निवारण हेतु जिनके लिए नहीं के बराबर प्रयास हुए।

आदिकालीन भारतवर्ष में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों की संख्या अधिक रही है जहाँ आर्य सृजनात्मक विचारधारा के अनुरूप कर्म करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत विकासोन्मुख व उन्नत समाज का निर्माण करते हुए एक स्थायित्व लाने का प्रयास करते थे, वहाँ लूटमार करके अपनी आजीविका चलाने वाले अनार्य आए दिन उन पर आक्रमण कर दिया करते थे। उनका सामना करने हेतु सारे आर्य समुदाय को निर्माण कार्य छोड़कर युद्ध में लग जाना पड़ता था और इस प्रकार सभी बनी-बनाई व्यवस्था बिगड़ जाती थी। फिर नए सिरे से काम शुरू करना पड़ता था। खेत उजड़ जाते थे, शिल्प नष्ट हो जाते थे और योजनाएँ बिगड़ जाती थीं। साथ ही सैकड़ों महान मस्तिष्क कटकर रणभूमि में गिर जाते थे, जिससे इनमें चल रही विकास की विचारधाराएँ जहाँ की तहाँ समाप्त हो जाती थीं। इस प्रकार आए दिन बड़ी-बड़ी हानियाँ होती

रहती थीं। जितना आगे बढ़ पाते थे, उतना ही पीछे हट जाना पड़ता था।

निदान अनार्यों की इस बर्बरता से परेशान होकर समाज के मनीषी महात्माओं ने गहराई से विचार कर इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालने का निश्चय किया।

अस्तु उन्होंने विचार किया और समाज को चार वर्णों के नाम से चार वर्गों में विभक्त कर दिया। एक वर्ग में उन्होंने वे व्यक्ति रखे, जो चिंतनशील स्वभाव के थे और अध्ययन एवं अध्यापन, समाजसेवा एवं लोक नेतृत्व में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इस वर्ग को उन्होंने ब्राह्मण कहा। दूसरे वर्ग में वे लोग लिए गए, जो स्वभाव से दुर्धर्ष और साहसी थे। शरीर से अपेक्षाकृत दृष्ट-पुष्ट और संग्राम कार्य में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इनको क्षत्रिय कहा गया। तीसरे वर्ग में वे शामिल किए गए, जो स्वभाव से उत्पादक, संगठनकर्ता, मितव्ययी, शांत और सहिष्णु थे। कृषि एवं वाणिज्य व्यवसाय में वैश्य बताया गया। चौथे वर्ग में उन सब लोगों को रखा गया, जो अविशेष स्वभाव, साधारण रुचि और सामान्य शिल्प के थे और जो उपर्युक्त तीनों में से किसी में भी समस्थ न हो सकते थे, इनको शूद्र की संज्ञा दी गई।

यह समग्र विभाजन गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप हुआ। जन्म से तो सभी शूद्र अर्थात् अनगढ़ होते हैं। बड़े होने पर उनकी भावना एवं निर्धारण के अनुरूप वर्ण एवं आश्रम का निर्धारण होता है। जन्म से किसी भी वर्ण में हो, पर यदि कर्म उस निर्धारण के प्रतिकूल है, तो उस व्यक्ति का कार्य के अनुरूप ही मूल्यांकन होगा। संस्कार ही वर्ण निर्धारण करते हैं।

विडंबना यह है कि आज मात्र वैश्य वर्ण और गृहस्थाश्रम की प्रमुखता है। शेष वर्ण और आश्रम तो विस्मृति के गर्त में चले गए। आवरण धारण कर लिए जाते हैं, पर उनके साथ जुड़े कर्तव्यों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। वर्ण के तो वंश साथ जुड़ गए एवं आश्रम धर्म लुप्त हो गया।

जैसा स्पष्ट है, लोकशिक्षण में संलग्न समुदाय को ब्राह्मण कुकर्मा के कुप्रचलनों के विरुद्ध जूझने वालों को क्षत्रिय उपार्जन का दायित्व सँभालने एवं समाज को भौतिक दृष्टि से सुसंपन्न बनाने वालों को वैश्य और श्रमिक समुदाय को शूद्र कहा गया है। इन चारों का ही समान महत्व और समान गौरव-सम्मान है।

जब सौ वर्ष की आयु थी, तब २५ वर्ष ब्रह्मचर्य और २५ वर्ष गृहस्थ में लगते थे। यह पूर्वार्द्ध निजी जीवन था। उत्तरार्द्ध में २५ वर्ष वानप्रस्थ परिव्राजक बनकर और २५ वर्ष स्थान विशेष पर आश्रम संचालन में लगते थे। यह संन्यास था। जो इनकी मर्यादाओं का पालन करे, उसी का

वर्णाश्रम धर्म पालन सच्चा है। वंश के आधार पर, वर्ण और वेष के आधार पर आश्रम की कल्पना सर्वथा अवास्तविक है।

वाल्मीकि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी महान ऋषि कहलाए और रावण कुंभकरण आदि ब्राह्मण परिवार में जन्मने पर भी नीच कहलाए व तिरस्कृत हुए। इन दिनों जन्म से वर्ण बनाने का और विशेषतया एक दूसरे को नीच-ऊँच मानने का प्रचलन सर्वथा अनुपयुक्त है। यह मध्यकालीन सामंतवादी अंधकार युग के प्रचलन हैं, जिसमें समर्थों को सम्मानित और असमर्थों को अपमानित किया जाने लगा ही। स्त्री और शूद्र, प्रतिशोध लेने की क्षमता न होने से नीच माने गए। यह प्रचलन समाज के नाम पर कलंक है एवं संस्कृति के स्वरूप को मलीन करने वाला। समय की माँग है, कि इसे उलटा जाए एवं पुनः उस शाश्वत-जाज्वल्यमान स्वरूप को सामने लाया जाए।

आश्रमोऽस्ति विभागः स जीवनक्रमगो ध्रुवम्।
अस्य स्वीकरणाद्व्यक्तिः सुखं याति समुन्नतिम् ॥ १३ ॥
समाजश्चापि नो रुद्धो जायते प्रगतिक्रमः।
सदा सन्तुलनं चात्र तिष्ठत्येव निरंतरम् ॥ १४ ॥
आत्मिक्याः प्रगतेस्तत्र भौतिक्याश्चाप्यपावृतम्।
द्वारं तिष्ठति संभक्ता चतुर्धा जीवनावधिः ॥ १५ ॥
एते चत्वार आख्याता आश्रमा यत्र च क्रमात्।
शक्तिविद्यासु संस्कारोपार्जनं प्रथमं भवेत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्यं इति ख्यातः संयमो यत्र पूर्णतः।
मात्रं कामपरित्यागं ब्रह्मचर्यं वदन्ति न ॥ १७ ॥

टीका—आश्रम जीवन क्रम का विभाजन है। इसे अपनाने से व्यक्ति सुखी और समाज समुन्नत रहता है। प्रगति क्रम रुकने नहीं पाता। संतुलन बना रहता है। भौतिक और आत्मिक प्रगति के दोनों ही द्वार खुले रहते हैं। जीवन अवधि को, चार भागों में विभाजित किया है। यही चार आश्रम हैं। प्रथम चरण में बलिष्ठता, विद्या और सुसंस्कारिता का उपार्जन होना चाहिए। यही ब्रह्मचर्य है, मात्र कामसेवन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते ॥ १३-१७ ॥

दूरदर्शी ऋषियों ने चार आश्रमों में जीवन को पूर्वाद्ध-उत्तराद्ध में बाँटा है। आयुष्य के पूर्वाद्ध में समर्थता एवं समृद्धि को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ, इन दो आश्रमों का प्रावधान है। उत्तराद्ध में वानप्रस्थ एवं संन्यास ये दो आश्रम आते हैं। इसमें भावना क्षेत्र को अधिक उत्कृष्ट बनाने तथा समय और श्रम को लोकमंगल में नियोजित रखने के लिए परंपरा बनाई गई है। जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए देव संस्कृति के ये निर्धारण बड़े महत्वपूर्ण मानने चाहिए। लौकिक प्रगति एवं आत्मिक उत्कर्ष दोनों ही प्रयोजन इस विभाजन से

पूरे होते हैं। यह विशेषता हमें कहीं देखने को नहीं मिलती।

गृहस्थश्चापरो पादो मात्रमुद्गाह एव न।
गृहस्थः प्रोच्यतेऽप्यत्र संस्था तु परिवारगा ॥ १८ ॥
समर्था सफला चापि क्रियते चेत्तदैव तु।
गृहस्थः प्रोच्यते यत्र वर्गे निर्वाह आदृतः ॥ १९ ॥
स एव परिवारश्च सदस्यास्तत्र दुर्बलाः।
पोष्यास्तु सबला ये च विधातव्यास्तु ते स्वयम् ॥ २० ॥
स्वावलंबिन एवं च संस्कारपरिसंस्कृताः।
सहकारगताश्चापि, विद्यालय इहोच्यते ॥ २१ ॥
परिवारस्य संस्थाया अस्योद्देश्यतया मता।
समुन्नतिस्तथा चैषा भावना विकसिता भवेत् ॥ २२ ॥
वसुधैव कुटुंबस्य भावनायां निरंतरम्।
समाजरचनायाश्च साऽऽधारत्वेन सम्मता ॥ २३ ॥
पारिवारिकतैवैषा या विकास्या च सर्वतः।
प्रत्येकं मनुजस्तिष्ठेत्सदस्यत्वेन सम्मतः ॥ २४ ॥
विश्वव्यापिकुटुंबस्य स्वं च मन्येत स स्वतः।
संपूर्णस्य समाजस्याविच्छिन्नं चांगमुत्तमम् ॥ २५ ॥

टीका—दूसरा चरण गृहस्थ है। गृहस्थ धर्म के पालन का अर्थ केवल विवाह करना नहीं, परिवार संस्था को समर्थ और सफल बनाना है। जिस समुदाय के बीच निर्वाह चलता है, वह परिवार है। परिवार के असमर्थ सदस्यों का भरण-पोषण और समर्थ सदस्यों को स्वावलंबी, सुसंस्कारी एवं सहकारी बनाने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। परिवार को सुसंस्कारिता की पाठशाला माना गया है। उसका उद्देश्य परिवार संस्था को समुन्नत बनाना है। यह पारिवारिकता वसुधैव कुटुंबकम् की भावना में विकसित होनी चाहिए। समाज संरचना का आधारभूत उद्देश्य पारिवारिकता ही है। इसे हर क्षेत्र में विकसित होना चाहिए। हर व्यक्ति विश्व-परिवार बन कर रहे। अपने को पूरे समाज का एक अविच्छिन्न अंग माने ॥ १८-२५ ॥

ऋषियों द्वारा निर्धारित विद्या एवं बल संपादन हेतु नियोजित ब्रह्मचर्य की अवधि के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यह मात्र दो कार्याओं का गठबंधन ही नहीं, सुसंस्कारिता उपार्जन की प्रयोगशाला भी है, जिसमें सभी पारिवारिक जनों के साथ रहते हुए सहकारिता, अध्यवसाय एवं आत्मावलंबन का प्रशिक्षण लिया जाता है। वस्तुतः परिवार समस्त मानव समुदाय के रूप में फैले स्रष्टा के वृहत परिवार की एक छोटी इकाई है। हर मनुष्य मात्र अपने परिवार तक ही सीमित न रहकर चिंतन को वृहत् विस्तार दे एवं विराट् विश्व को अपना कार्यक्षेत्र माने, पारिवारिक भावना का विस्तार कर इस उद्यान को समुन्नत बनाए, ऐसी ऋषिगणों की इच्छा रही है। गुरुकुल से लेकर संयुक्त कुटुंब तक में इसी भावना

४.१२ प्रज्ञोपनिषद्

के विकास का प्रावधान है। इसी कारण परिवार संस्था को सम्मानित किया गया है।

गृहस्थ-धर्म अन्य सभी धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। महर्षि व्यास के शब्दों में गृहस्थ्येव हि धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते गृहस्थाश्रम ही सर्व धर्मों का आधार है। धन्यो गृहस्थाश्रमः चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम धन्य है। जिस तरह समस्त प्राणी माता का आश्रय पाकर जीवित रहते हैं, उसी तरह सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं।

श्रीराम को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता बताते हुए चित्रकूट में भरत जी कहते हैं

धर्मेण चतुरो वर्णान्यालयन् क्लेशमाप्नुहि।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम्॥

धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिए, क्योंकि हे धर्मज्ञ चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम ही धर्मज्ञशील लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं।

यौवने योजनास्याच्च भौतिकोत्पादनस्य सा।

प्रगतेश्चापिस्वस्थाऽस्ति स्वावलंबनसंस्थितेः ॥ २६ ॥

सार्वभौमसमृद्धेश्च समयः शुभ एष तु।

उपयोगिश्रमासक्तैः समृद्धयै भाव्यमेव च ॥ २७ ॥

प्रयासोऽयं गृहस्थस्य धर्मस्यैवांगतां गतः।

जीवनस्यार्धमस्येतद् भौतिकेभ्यस्तु निश्चितम् ॥ २८ ॥

प्रयोजनेभ्य एवापि स्वार्थपारार्थहेतवे।

ब्रह्मचर्ये गृहस्थे च परेषामात्मनस्तथा ॥ २९ ॥

शारीरिक्यास्तथा तस्या मानसिक्या अपि त्विह।

सामाजिक्यास्तथाऽऽर्थिक्याः समृद्धिः क्रियतेऽभितः ॥ ३० ॥

निश्चितं शेषमर्थं च परमार्थस्य वृद्धये।

भावनायाश्चरित्रस्य सत्प्रवृत्तेश्च वृद्धये ॥ ३१ ॥

टीका—युवावस्था में भौतिक उत्पादन और प्रगति की योजना सामने रहनी चाहिए। अपने स्वावलंबन और सार्वजनिक समृद्धि के संवर्द्धन का ठीक यही समय है। उपयोगी श्रम में संलग्न रहकर व्यापक समृद्धि के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए। यह प्रयास गृहस्थ धर्म का ही अंग है। आधा जीवन भौतिक प्रयोजनों के लिए और स्वार्थ-परमार्थ प्रयोजनों के लिए निर्धारित है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में अपनों तथा अन्यान्यों को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक समृद्धि का सर्वतोन्मुखी संवर्द्धन किया जाता है। शेष आधे जीवन को पारमार्थिक, भावनात्मक, चारित्रिक एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए नियोजित रखा जाता है ॥ २६-३१ ॥

जहाँ गृहस्थाश्रम में व्यक्ति युवा व बल संपन्न होने के कारण स्वयं परिवार एवं समस्त समुदाय की समृद्धि बढ़ाने का प्रयास करता है, वहाँ अंतिम दो आश्रमों, वानप्रस्थ व संन्यास में सारी क्षमताएँ दूसरों को ऊँचा उठाने, उनका

भावनात्मक उत्कर्ष करने हेतु नियोजित कर दी जाती है। आयुष्य के पूर्वाद्ध को मूलतः बहिरंग के विकास हेतु, बल-सामर्थ्य, वैभव उपार्जन की पाठशाला माना जा सकता है, तो उत्तराद्ध को समुदाय के गुण, कर्म स्वभाव की परिष्कृत हेतु समाज में सत्प्रवृत्तियों के विस्तार हेतु नियोजित एक कर्मशाला कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-गृहस्थ एवं वानप्रस्थ संन्यास का सुविभाजित कार्यक्षेत्र है। कहीं किसी भी प्रकार व्यक्ति के समग्र-विकास जीवन व्यवस्था की उपेक्षा-अवहेलना इससे नहीं होती और न सुव्यवस्थित निर्धारण के कारण कर्तव्य संपादन में कोई कठिनाई ही आती।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था समाज सेवा का उत्कृष्ट आदर्श है। ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक शक्तियों का जागरण करना और उसे समाज को समर्पित कर देना। गृहस्थ में परिवार का पालन-पोषण भी उसी का एक रूप है। वानप्रस्थ उस क्षेत्र से भी आगे बढ़कर विश्व परिवार में आत्माहुति है। यह त्याग शनैः शनैः बढ़ता हुआ आत्म कल्याण की अंतिम भूमिका संन्यास तक पहुँचता है।

देवसंस्कृतिरेतस्मै वानप्रस्थाश्रमस्य च।

संन्यासस्य व्यधात्पूर्णा व्यवस्थां सुदृढामिह ॥ ३२ ॥

जनसंपर्कमाकर्तुमन्यान् वा रचनात्मकान्।

कार्यक्रमांश्च जागृत्यै सामर्थ्ये तु शरीरगे ॥ ३३ ॥

वानप्रस्थक्रमः सोऽयं निर्वोदुं शक्यते जनैः।

क्षीणायां वपुषः शक्तौ संन्यासी तु कुटीचरः ॥ ३४ ॥

एकदेशस्थितो दद्यात् साधनाया अथापि च।

प्रेरणां शिक्षणस्यात्र पुण्यां हितहितां सदा ॥ ३५ ॥

टीका—देव संस्कृति ने इसके लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की सुदृढ़ अपने में पूर्ण व्यवस्था बनाई है। जन-जागरण के लिए जन संपर्क एवं रचनात्मक कार्यक्रम संचालन योग्य शारीरिक सामर्थ्य रहते वानप्रस्थ क्रम निभाया जाना चाहिए। शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर कुटीचर संन्यासी के रूप में एक स्थान पर रहकर पुण्यदायी, लोकहितैणी साधना, शिक्षण एवं प्रेरणा संचार का काम सँभालना चाहिए ॥ ३२-३५ ॥

गृहस्थस्य विरक्तस्य वानप्रस्थस्य मध्यगः।

वानप्रस्थसुसंस्कारान् स्वीकुर्वन्निवसेत्त्वचित् ॥ ३६ ॥

आरण्यके यथाकालं कर्तव्यानि निजानि च।

निर्वोदुमनुगन्त्रीं च शिक्षामासादयेन्नरः ॥ ३७ ॥

साऽधुनाऽपि तथा कार्या कार्यं यच्च महत्त्वगम्।

कर्तुं हस्तगतं तच्च पूर्वमावश्यकं ततः ॥ ३८ ॥

अनुभवं शुभमभ्यासं कुर्याद्विदमुच्यते।

वानप्रस्थस्य दीक्षायाः शुभारंभस्वरूपकम् ॥ ३९ ॥

वानप्रस्थाश्च स्वस्यास्य क्षेत्रस्य परिधेर्बहिः।

दूरक्षेत्रेषु गत्वा ते सेवन्ते जनतां सदा ॥ ४० ॥

टीका—गृहस्थ और विरक्त-वानप्रस्थ के मध्यांतर में वानप्रस्थ संस्कार संपन्न करते हुए कुछ समय किसी उपयुक्त आरण्यक में रहकर अपने नए कर्तव्य-उत्तरदायित्व के निर्वाह में सहायक हो सकने वाली शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा साधना करनी चाहिए। हर महत्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने से पूर्व उसके लिए आवश्यक अनुभव एवं अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यही वानप्रस्थ की दीक्षा का शुभारंभ स्वरूप है। वानप्रस्थ अपने परिचित क्षेत्र की परिधि से बाहर निकलकर दूर क्षेत्रों में सेवारत रहते हैं ॥ ३६-४० ॥

परमार्थ प्रयोजन के निमित्त, जनमानस का भावनात्मक परिष्कार करने के लिए देव संस्कृति की बड़ी ही सुंदर वानप्रस्थ एवं संन्यास के रूप में आश्रम व्यवस्था है, जो आयुष्य के उत्तर काल में संपन्न होती है। पूर्वाद्ध में अर्जित विद्या, संचित अनुभवों की संपदा से विभूषित व्यक्ति का यथाशक्ति, सर्वश्रेष्ठ लाभ समाज को मिले, इस व्यवस्था के मूल में यही तत्त्व दर्शन है। जब तक शरीर साथ दे, तब तक निरंतर समाज परिकर में भ्रमण करते हुए जनजागृति का अलख जगाया जाए, श्रेष्ठता का पक्षधर वातावरण बनाया जाए। जब शरीर बल क्षीण हो जाता है, वार्द्धक्य के कारण शक्ति उतनी नहीं रहती, तब संन्यास आश्रम ग्रहण कर किसी स्थान विशेष, आरण्यक, संस्कारित तीर्थ पर स्थिर हो आत्म परिष्कार, उन्नयन की साधना, जनमानस के परिष्कार हेतु लोकशिक्षण एवं धर्मधारणा के प्रसार-विस्तार का पुण्य कार्य संपन्न किया जाए। यही ऋषिगणों द्वारा निर्धारित व्यवस्था है, जो आदिकाल से चली आ रही है।

वानप्रस्थ हेतु ऋषि आदेश देते हैं कि गृहस्थाश्रम के दायित्वों से निवृत्ति के तुरंत बाद स्वयं को इस पुण्य-प्रयोजन हेतु दीक्षित करना चाहिए। यह कार्य तीर्थ क्षेत्र, श्रेष्ठ संतों अथवा आरण्यकों में रहकर उनके मार्गदर्शन में संपन्न हो सकता है। हर कार्य के लिए समुचित शिक्षण अनिवार्य है। बिना शिक्षण के न तो कोई चिकित्सक बन सकता है, न ही अध्यापक। जब समाज रूपी विराट् तंत्र का लोकशिक्षण करना हो, तो इस विधा में प्रशिक्षित होना जरूरी है। तदुपरांत कार्यक्षेत्र में निकला जाए, यह अपने परिचित संपर्क के क्षेत्र से अलग हो। इससे नयों के संपर्क में आने का अवसर मिलता है, झिझक खुलती है एवं पुराना परिकर न होने के कारण किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं रहता।

आध्यात्मिक और पारमार्थिक गतिविधियाँ अपनाकर जीवन के उत्तरार्द्ध को इतना मृदुल और सरस बनाया जा सकता है, मानो नवीन जन्म ग्रहण किया गया है। जिस प्रयोजन के लिए यह शरीर मिला है मानव जन्म का जो परम

लक्ष्य है, वह पूर्वाद्ध में यत्किञ्चित् ही पूरा हो पाता है। अधिक उत्तम सुअवसर तो उत्तरार्द्ध में ही मिलता है। मानसिक उभार उतर जाने और परिवार का भार हलका हो जाने से मन भी अच्छी तरह लगता है और चित्त के डाँवाडोल होने की लुढ़कने फिसलने की आशंका भी कम रहती है। मरण का दिन समीप आता देखकर परमार्थ की पुण्य पूँजी संग्रह करने के लिए अगले जन्म में ऊँची स्थिति पाने के लिए उत्कंठा जाग्रत होती है और अधिक गंभीरतापूर्वक दिव्य जीवन की उन गतिविधियों को अपनाया जा सकता है, जो चढ़ती उम्र में प्रायः अरुचिकर और कठिन लगती थीं।

ब्रह्मविद्या की तत्त्वदर्शन ज्ञान-साधना-योगाभ्यास की तप-साधना-लोकमंगल की सेवा-साधना, यह तीनों अमृतमयी देवसरिताएँ मिलकर गंगा-यमुना-सरस्वती के मिलन, संगम का प्रयोजन पूरा करती है और तीर्थराज प्रयाग जैसी त्रिवेणी इस जीवन में प्रादुर्भूत होती है। यह अभिनव आनंद अपने ढंग का अनोखा है और ऐसा है, जिससे बालकपन, किशोरावस्था और यौवन में जो अर्जित किया गया था, उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही आनंदमयी विभूतियाँ उपलब्ध हो सकती हैं होती हैं। संपदाओं से विभूतियों का स्तर हल्का नहीं, भारी ही है। इसलिए पूर्वाद्ध में जो उपार्जित किया गया था, उसकी तुलना में उत्तरार्द्ध की कमाई का मूल्य भी अधिक ही आता है। ऐसी दशा में परमार्थ परायण उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने वाले को बाल्यकाल और यौवन के चले जाने का पश्चाताप नहीं करना पड़ता, वरन् यही अनुभव होता है कि वह अल्हड़पन चला गया सो, अच्छा ही हुआ, यह ढलती आयु ऐसे अनुदान-वरदान लेकर आई है, जिनका इस गधा पच्चीसी के दिनों मिल ही सकना कठिन है। ऐसे चिंतन के रहते किसी को पूर्वाद्ध के बीत जाने से दुःखी होने, पछताने की जरूरत नहीं पड़ती, वरन् यह अधिक महत्वपूर्णा अवसर हाथ लगने का संतोष ही होता है।

जीवन उतना ही सार्थक है, जितना कि सदुद्देश्यों के लिए जिया जाता है।

कुर्वन्ते वानप्रस्थास्ते समाजे सर्वदैव तु।

सद्भावस्यज्ञानस्य वृद्धिमत्र निरंतरम् ॥ ४१ ॥

रचनात्मक - वृत्तीनामपि लोकहितात्मनाम्।

मूढानां मान्यतानां च वारणं तु कुरीतिभिः ॥ ४२ ॥

विद्यते युगधर्मोऽयं शाश्वती च परंपरा।

प्रत्येकस्मिन् युगे ग्राह्या जनैरेषा परंपरा ॥ ४३ ॥

टीका—वानप्रस्थ समाज में निरंतर सद्ज्ञान, सद्भाव एवं लोकोपकारी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने तथा कुप्रचलनों, मूढमान्यताओं आदि के निवारण का कार्य करते हैं। यह शाश्वत परंपरा भी है और युग धर्म भी। अतः प्रत्येक युग में

४.१४ प्रज्ञोपनिषद्

इस परंपरा का अनुसरण व्यक्तियों को करना चाहिए ॥ ४१-४३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वेव वानप्रस्थो महत्त्वगः ।
लोकमंगलसिद्धिश्च जायते तत्र संभवा ॥ ४४ ॥
अस्मादेवाश्रमाद् योग्यसमर्थानां चमूरिव ।
लोकसेविनृणां वर्ग उदेत्यनुभवाऽधिकः ॥ ४५ ॥
सर्वेषां विदितं चैतल्लोकमंगलकार्मुकः ।
उदारहृदयो यश्च मनुजोऽनुभवी भवेत् ॥ ४६ ॥
आत्मकल्याणवद् विश्वकल्याणं कर्तुमुत्सहेत् ।
स एव निश्चितं नात्र विचिकित्सा मनागपि ॥ ४७ ॥
धनव्ययो न येषु स्याद् योग्यता-भावना-धिया ।
मूर्द्धन्या ये विनिर्मान्ति ते नरा लोकसेविनः ॥ ४८ ॥
देशं समाजमप्यत्र सम्पन्नं शक्तिसंयुतम् ।
तेषां यदा भवेदत्र न्यूनता तर्हि वर्धते ॥ ४९ ॥
अविकासस्थितिरूनं सर्वत्रैव महीतले ।
विश्वव्यवस्थितौ येषां दायित्वं विद्यते नृणाम् ॥ ५० ॥
पुरोधसां न शालीन्यन्यूनता स्याद् भुवीति तत् ।
वानप्रस्थे समुत्पन्नं परिपक्वं च जायते ॥ ५१ ॥

टीका—चारों आश्रमों में वानप्रस्थ सबसे महत्त्वपूर्ण है । उसी से लोकमंगल की साधना बन पड़ती है । लोकसेवियों की सुयोग्य और समर्थ सेना इसी आश्रम के भाण्डागार से निकलती है । सर्वविदित है कि अनुभवी उदारचेता और लोकमंगल की भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति ही आत्मकल्याण और विश्व कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा कर पाते हैं, इसमें संदेह नहीं । जिन पर धन न खर्च करना पड़े, जो योग्यता और भावना की दृष्टि से मूर्द्धन्य हों, ऐसे लोकसेवी ही किसी देश या समाज को समर्थ-संपन्न बना पाते हैं । उनकी कमी पड़ने से सर्वत्र पिछड़ापन बढ़ता है । विश्वव्यवस्था में शालीनता की मात्रा कम न होने देने की जिम्मेदारी जिस पुरोहित वर्ग की है, वह वानप्रस्थ आश्रम में ही प्रकट और परिपक्व होता है ॥ ४४-५१ ॥

देवसंस्कृति द्वारा निर्धारित आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थों के लिए चाहे वह किसी भी आयु में लिया गया हो, प्रमुख दायित्व है जनमानस के परिष्कार का । उसे धर्मतंत्र के माध्यम से लोकशिक्षण करना होता है । यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि वानप्रस्थ को संस्कृति का मेरुदंड कहा गया है । समाज में अनगढ़ व्यक्ति यों का बाहुल्य है । परंपराएँ, कुप्रचलन, अंधविश्वास समाज की प्रगति के मार्ग में अवरोध बन गए हैं । जिस प्रकार समय-समय पर हर स्थान आमूलचूल सफाई की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार समाज रूपी परिकर के परिशोधन हेतु, दुष्प्रवृत्तियों के निवारण एवं सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन हेतु लोकमंगल हेतु समर्पित व्यक्तित्वों की आवश्यकता

निरंतर पड़ती रहती है ।

वानप्रस्थ उस भावनाशील लोकसेवी की भूमिका निभाते हैं, जो स्वेच्छा से समर्पित हों, समाज निर्माण को, नैतिक-बौद्धिक क्रांति को अपना कर्तव्य मानकर चलते हैं, थोपी गई जिम्मेदारी नहीं । इसके लिए वे समाज पर भी भार नहीं बनते । वेद में कहा गया है वयं राष्ट्रे जागृत्याम पुरोहिताः ॥ यहाँ पुरोहित शब्द से आशय वानप्रस्थ के रूप में कार्यरत पूर्ण समर्पित लोकसेवी से है । हम पुरोहित राष्ट्र को जाग्रत और जीवंत बनाए रखेंगे । जैसी उद्घोषणा करने वाला देव संस्कृति का यह प्रतिनिधि घर-घर अलख जगाने धर्म चेतना के व्यापक विस्तार के अपने संकल्प को बारंबार दुहराता है ।

आज के युग में जहाँ अनास्था का बाहुल्य है एवं चारों ओर दुष्प्रवृत्तियाँ ही संव्याप्त नजर आती हैं, वानप्रस्थों के ऊपर महती जिम्मेदारी आती है । अनीति, अभाव व अज्ञान के असुरों से जूझने हेतु समर्पित व्यक्तित्व चाहिए, जो गृहस्थ की जिम्मेदारी से मुक्त हों एवं श्रम, समय, मनोयोग लगाकर लोककल्याण हेतु तत्पर हो सकें ।

इस आश्रम व्यवस्था के संबंध में शास्त्रकारों के स्पष्ट निर्देश हैं

शास्त्र सम्मति एवं वनाश्रमेतिष्ठन्
पातयश्चैव कित्विषम् ।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत्
संन्यासविधिना द्विजः ॥

-हारीत स्मृति ६/१२

गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए । इससे समस्त मनोविकार दूर होते हैं और वह निर्मलता आती है, जो संन्यास के लिए आवश्यक है ।

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।

पुत्रे सर्व समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमास्थितः ॥

-मनु ४/२५७

ढलती आयु में पुत्र को गृहस्थी का उत्तरदायित्व सौंप दें । वानप्रस्थ ग्रहण करें और देव, पितर तथा ऋषियों का ऋण चुकावें ।

उपासना च सर्वत्राऽनिवार्या सा श्रमेषु तु ।

आश्रमेषु चतुर्ष्वेव स्थानं तस्याः कृते ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

महत्त्वपूर्ण स्यादेव युगेऽस्मिन् सुलभा तथा ।

उपयुक्ताऽस्ति च प्रज्ञायोगस्यैषा तु साधना ॥ ५३ ॥

केवलेन न कार्यं तूपासनाविधिना भवेत् ।

स्वाध्यायसाधनासेवासंयमानां चतुर्विधा ॥ ५४ ॥

कार्यपद्धतिरुक्ता या तदा विश्वस्य चात्मनः ।

कल्याणरूपं यल्लक्ष्यं द्विष्टं तत्पूर्णां व्रजेत् ॥ ५५ ॥

टीका—उपासना हर क्षेत्र में आवश्यक है । उसे चारों

आश्रमों में समान स्थान और महत्व मिलना चाहिए। इसके लिए वर्तमान युग में प्रज्ञा योग की साधना सर्वसुलभ और सभी आश्रमों के लिए उपयुक्त है। उपासना अकेली से काम नहीं चलता। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध कार्यपद्धति अपनाने से ही आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का उभयपक्षीय जीवन लक्ष्य पूरा होता है ॥ ५२-५५ ॥

उपासना अंतःकरण की चिकित्सा है। नित्य प्रतिदिन छाप रहने वाले कुसंस्कार-कषाय-कल्मषों की महाव्याधि से छुटकारा पाने हेतु यह एक अमोघ ओषधि है। हर स्थिति में, चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो उपासना का अवलंबन उसके लिए अनिवार्य है। इससे श्रेष्ठता के प्रति उच्चस्तरीय श्रद्धा का जागरण होता है, जो कि हर वरिष्ठ देवमानव के लिए जो सत्प्रवृत्ति विस्तार का भागीरथी पुरुषार्थ करने को उद्यत है, अनिवार्य है।

उपासना अकेली ही पर्याप्त नहीं। आत्म पर्यवेक्षण एवं सुधार द्वारा अंतःकरण के परिमार्जन की साधना, चिंतन-चरित्र एवं व्यवहार में श्रेष्ठता के समावेश हेतु महामानवों की चरित्र गाथाओं का स्वाध्याय, समय-विचार-वाणी एवं इंद्रिय निग्रह की संयम प्रक्रिया एवं समाज परिकर में फैले विराट ब्रह्म की आराधना-सेवा-साधना के रूप में चार गतिविधियों का समावेश भी साधना में होना चाहिए। यह मात्र व्यक्ति की आत्मिक प्रगति का प्रयोजन ही पूरा नहीं करते, अपितु इससे समष्टिगत परमार्थ का वह हित भी सधता है, जिसके लिए मनुष्य ने जन्म लिया है।

लकड़ी और अग्नि की समीपता का प्रतिफल प्रत्यक्ष है। गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी नमी गँवाती और उस ऊर्जा से अनुप्राणित होती चली जाती है। जब वह अति निकट पहुँचती है, तो फिर आग और लकड़ी एक स्वरूप जैसे हो जाते हैं। साधक को भी ऐसा ही भाव समर्पण करके ईश्वरीय अनुशासन के साथ अपने आपको एक रूप बनाना पड़ता है। चंदन के समीप वाली झाड़ियों का सुगंधित हो जाना, स्वाँति बूँद के संयोग से सीप में मोती पैदा होना पारस छूकर लोहे का स्वर्ण बनना नाले का गंगा में मिलकर गंगाजल बनना पानी का दूध में मिलकर उसी भाव बिकना, बूँद का समुद्र में मिलकर सुविस्तृत हो जाना, जैसे अगणित उदाहरण हैं, जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्त और भगवान की एकता-उपासना का स्तर क्या होना चाहिए। सृष्टि के आदि से अद्यावधि सच्चे भक्तों में से प्रत्येक को ईश्वर का शरणागत होना पड़ा है। आत्म समर्पण का साहस जुटाना पड़ा है। इसका व्यावहारिक स्वरूप है, ईश्वरीय अनुशासन को, उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व को अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति से अनुप्राणित करना। जो

इस तत्त्वदर्शन को जानते-मानते और व्यवहार में उतारते रहे हैं, उन सच्चे ईश्वर भक्तों को सुनिश्चित रूप से लाभ मिलते हैं, जिन्हें उपासना की फलश्रुतियों के रूप में कहा जाता रहा है।

उपासना का शब्दार्थ है समीप बैठना। ईश्वर और जीव के बीच रहने वाली दूरी को समाप्त करके जिस प्रक्रिया से निकटता बनती हो, उसे उपासना कहा जा सकता है। समीपता से विशेषताओं का आदान-प्रदान होता है। एक के गुण दूसरे को प्राप्त होते हैं। सत्संग के लाभ और कुसंग के दुष्परिणाम सर्वविदित हैं। अधिक प्रभावशाली तत्व कम सामर्थ्यवानों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। आग के निकट आने वाले पदार्थ गर्म होते हैं और जलने लगते हैं। बर्फ के स्पर्श में जो भी ठंडक होती है, स्पर्शकर्ता को भी अपनी शीतलता प्रदान करती है। उपासना में भी ऐसा ही होता है। ईश्वर महान है। उसकी समीपता महानता की वृद्धि करती है। ईश्वर अनेकों श्रेष्ठताओं का पुंज है, पास बैठने में वे श्रेष्ठताएँ प्रवेश करती हैं। ईश्वर विभूतिवान है, साधक में विभूतियों की अभिवृद्धि होती है। राजा के अर्दली का भी मान बढ़ जाता है, उसके पास बैठने वाले दरबारियों का रुतवा बढ़ता है। फिर कोई कारण नहीं कि ईश्वर की समीपता यदि वास्तविक हो, तो उसका प्रभाव उपासनारत व्यक्ति पर न पड़े। ईश्वर से तात्पर्य है—सद्गुणों का, श्रेष्ठता का समुच्चय। श्रेष्ठता से असीम प्यार उसे आत्मसात करने की ललक ही सच्ची उपासना है।

उपासना अपने आप में एक समग्र शब्द है। उसे भाव रूप में समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति उसके लिए वांछित कर्मकांड पूरे करता है, पर भावना वैसी नहीं है, तो वह चिह्न-पूजा भर है। यदि भावना उच्चस्तरीय है, तो जो भी कृत्य बन पड़े, वही उपासना है।

आश्रमा इव वर्णास्ते चत्वारः संति शोभनाः।

क्षत्रियाश्च विशः शूद्रा समाजे कुर्वते क्रमात् ॥ ५६ ॥

सुरक्षायाः समृद्धेश्च श्रमस्यापूर्तिमुत्तमाम्।

ब्राह्मणस्य च दायित्वमध्यात्मप्रमुखस्मृतम् ॥ ५७ ॥

समाजोत्कर्षकार्ये च चतुर्णामपि वर्तते।

महत्त्वपूर्णमैतेषां योगदानं च वस्तुतः ॥ ५८ ॥

उच्चोनीचश्च नैवात्र वर्तते कोऽपि मानवः।

समाजावयवाः सर्वे वर्णाः स्वस्था अपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

जन्मना जायते शूद्रो मान्यता देवसंस्कृतेः।

इयमेवास्ति संस्कारैर्द्विजाः पश्चाद् भवन्ति ते ॥ ६० ॥

सामान्यतस्तु वर्णास्ते कर्तव्यानि स्वकानि च।

निर्वहन्ति परं कश्चित् समाजस्य परिस्थितेः ॥ ६१ ॥

पूर्ण सन्तुलनं कर्तुं विवेकेन युतं स्वतः।

४.१६ प्रज्ञोपनिषद्

क्षमतां वर्द्धयित्वाऽन्यदायित्वं वोढुमर्हति ॥ ६२ ॥

चतुर्ध्वं यदाप्येको पतनैर्हि तदैव तु।

समाजस्य स्थितिर्याति विकृतिं हि शनैः शनैः ॥ ६३ ॥

सावधानैः सदाभाव्यं ब्राह्मणैर्विषयेऽत्र तु।

पतिते तु यतस्तस्मिन् पतन्त्यन्येऽपि वर्गगाः ॥ ६४ ॥

टीका—आश्रमों की तरह वर्ण भी चार हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में क्रमशः सुरक्षा, समृद्धि और श्रम की महत्वपूर्ण भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। ब्राह्मण का उत्तरदायित्व अध्यात्म प्रधान है। वस्तुतः समाजोत्कर्ष में चारों का योगदान महत्वपूर्ण है। किसी को छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता। समाज रूपी शरीर के सभी अंग सभी वर्ण स्वस्थ होने चाहिए। देवसंस्कृति की मान्यता है कि जन्म से सभी शूद्र हैं, संस्कारों के द्वारा द्विज बनते हैं। सामान्य रूप से सभी वर्ण अपने निर्धारित कर्तव्य सँभालते हैं। किंतु समाज तथा परिस्थितियों के विवेकपूर्ण संतुलन के लिए कोई भी व्यक्ति वर्ण विशेष की क्षमताएँ अपने अंदर विकसित करके उनके उत्तरदायित्वों को सँभाल सकता है। चारों में से किसी एक वर्ग का पतन होने से समाज का संतुलन बिगड़ने लगता है। ब्राह्मण वर्ग को इस दिशा में सबसे अधिक सतर्क रहना होता है। उसका पतन होने से अन्य वर्गों का भी पतन होने लगता है ॥ ५६-६४ ॥

तुलना ब्राह्मणस्यातो मुखेनोक्ता धियाऽपि च।

चिन्तनं स ददात्येवं शिक्षाया वहते धुरम् ॥ ६५ ॥

प्रवचनस्य चोद्घोषस्यापि दांतो महात्मनः।

जीवनं ब्राह्मणस्य स्यादपरिग्रहितात्त्विकम् ॥ ६६ ॥

सौम्यं विगततृष्णं च सद्गुणैरभिषोभितम्।

सेवापरायणं चापि सदाचारयुतं सदा ॥ ६७ ॥

टीका—ब्राह्मण की तुलना मस्तिष्क एवं मुख से की गई है, वह उदार हृदय चिंतन प्रदान करता है और उद्घोष-प्रवचन-प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी स्वयं अनुशासित बन सँभालता है। ब्राह्मण का निजी जीवन अपरिग्रही एषणाओं से रहित, सौम्य, सात्विक, सद्गुणी, सेवापरायण एवं सदाचारयुक्त होना चाहिए ॥ ६५-६७ ॥

प्रस्तुत प्रकरण प्रारंभ करते हुए ही सत्राध्यक्ष श्री कात्यायन जी ने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर समाज के चार वर्णों में विभाजित होने की चर्चा की थी। उसी प्रसंग को यहाँ विशद रूप में समझाते हुए वे प्रत्येक के कार्य विभाजन एवं उत्तरदायित्वों की व्याख्या कर रहे हैं। चारों वे स्तंभ हैं, जिन पर समाज रूपी भवन टिका हुआ है। इनमें से किसी के भी दुर्बल पड़ने से समाज का सारा ढाँचा चरमरा सकता है। वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र मूलतः भौतिकी प्रधान उद्देश्यों से जुड़े हैं, तो ब्राह्मण आत्मिकी से संबंधित होने के कारण समुदाय

की आत्मिक प्रगति के लिए उत्तरदाई हैं।

कोई ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। अपितु व्यक्ति अपनी सुसंस्कारिता द्वारा इसी मनुज काया में द्वितीय जन्म प्राप्त कर द्विज इस श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है। चूँकि आत्मिक उत्कर्ष पर ही किसी वर्ग, समुदाय की प्रगति निर्भर है, ब्राह्मण वर्ग पर विशेष दायित्व है, उन्हें अपना स्तर बनाए रखकर औरों के मार्गदर्शन का दुष्कर किंतु पुण्य कार्य निवाहना होता है। ब्राह्मणों के स्तर पर ही समाज की प्रगति, राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है।

व्यक्तिगत जीवन में स्वयं के प्रति कठोर, औरों के प्रति उदार, अनुशासित जीवन क्रम, कथनी ही नहीं, करनी से शिक्षण ही ब्राह्मण की विशेषता है। ऋषि कहते हैं—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ब्राह्मण समाज का मस्तिष्क है, मुख है। अर्थात् संचालन तंत्र है। इतना श्रेष्ठ व उच्चस्तरीय दायित्व होने के नाते निश्चित ही ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि हो जाता है। उसके अपने कर्तव्य औरों के उत्थान-पतन के कारण बन जाते हैं।

कस्मिन्नपि कुले जन्मग्रहणादेव नैव तु।

कश्चिद् भवति विप्रोऽत्रलोकोद्धारक उत्तमः ॥ ६८ ॥

तदर्थं च सदाचारसिद्धतोक्ता भवन्त्यपि।

वानप्रस्थादिगा विप्रा ब्रह्मकर्मयुता यदि ॥ ६९ ॥

टीका—मनुष्य किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही ब्राह्मण नहीं बनता। उसके लिए आचरण सिद्ध भी होना पड़ता है। ब्रह्मकर्मरत वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी ब्राह्मण संज्ञा में आते हैं ॥ ६८-६९ ॥

उच्च उद्देश्यों की पूर्ति एवं विशिष्ट सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने हेतु एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति अपनाने तथा अपने भीतर ब्राह्मणत्व के गुण पैदा करने वाले व्यक्ति ही ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मणत्व अर्थात् उत्कृष्टता किसी वंश विशेष की बपौती नहीं। मानसकार ने स्पष्ट कहा है कि किसी वंश-जाति में जन्म लेने के कारण कोई नीच-ऊँच कैसे हो सकता है।

उपजहिं एक संग जग माहीं।

जलज जोंक जिमि गुन विलगाहीं ॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू।

जनम एक जल जलधि अगाधू ॥

ब्राह्मण वंश में वशिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज आदि ऋषि-मुनि-तपस्वी त्यागी हुए हैं, तो रावण, कुंभकरण, मारीच, खरदूषण जैसे दुष्ट राक्षस भी हुए हैं। अतः जाति-वंशगत उत्तराधिकार का दावा सर्वथा निरर्थक है। हर वर्ग में श्रेष्ठ व्यक्ति होते रहे हैं और अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण ब्राह्मण

पद पाते रहे हैं। अगणित ऐसे ऋषियों का उल्लेख मिलता है, जो ब्राह्मणेतर वर्णों में जन्मे, पर अपने कर्मों के अनुरूप उनसे ब्राह्मर्षि तक का पद प्राप्त किया। इन प्रमाणों से भारतीय इतिहास पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। मध्यकाल में रैदास, कबीर, नानक, दादू, नामदेव, विवेकानंद आदि ब्राह्मणेतर जातियों में, कितने ही तो शूद्र-वर्ण में पैदा हुए पर उनकी गरिमा किसी ब्राह्मण से कम नहीं आँकी गई गांधी, बुद्ध, महावीर भी तो ब्राह्मण नहीं थे। राम-कृष्ण क्षत्रिय थे। पर उनकी पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। श्रेष्ठता को जातीयता की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

उदरपूर्तिनिमित्तं हि शिक्षा चार्थकरी तु या।
विद्यार्थिनस्तदर्थं तु धावंतो ह्यभिभावकाः ॥ ७० ॥
व्यवस्थां कुर्वते यात्राऽध्यापका वेतनाश्रिताः।
प्राप्यन्ते बोधकर्तारः श्रमिका इव सर्वतः ॥ ७१ ॥
अभावस्तु भवेत्तेषां प्राप्नुवन्ति स्वयं तु ये।
गुणकर्मस्वभावनां स्वानामादर्शमुत्तमम् ॥ ७२ ॥
स्याद् विवेकोदयो येन जनसाधारणस्य तु।
शिक्षयेयुरुदात्तं च चरित्रं परमार्थताम् ॥ ७३ ॥
सर्वेषां वशगं नैतत्कर्म लोके तु संभवेत्।
विप्राणां प्राय एतत्तु, पौरोहित्ये च ते स्वयम् ॥ ७४ ॥
जनसामान्यनेतृत्वं कुर्वते भावनात्मकम्।
धर्मधृत्यै तथैतस्यै मात्रमुद्बोधनं नहि ॥ ७५ ॥
पर्याप्तं परमभ्यासकारणाद्रचनात्मकम्।
आन्दोलनं च संस्कारकारकं बह्वपक्ष्यते ॥ ७६ ॥
एकत्रीकृत्य चासंख्यास्तत्र लोकांश्च कर्मणि।

कृत्वा परिणतं ज्ञानं विधेयं तत् स्वभावगम् ॥ ७७ ॥
टीका—उदरपूर्ति के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी और अभिभावक स्वयं ही दौड़ धूप करते रहते हैं। उसके लिए जानकारी भर बढ़ाने वाले वेतनभोगी अध्यापक भी अन्यान्य श्रमिकों की तरह हर जगह मिल जाते हैं। अभाव उनका रहता है जो अपने गुण-कर्म-स्वभाव का आदर्श प्रस्तुत करके जन-साधारण का विवेक जगा सकें, उदात्त आचरण एवं परमार्थ-परायणता सिखा सकें। यह काम कर सकना हर किसी के वश का नहीं है। प्रायः ब्राह्मण का ही है। उन्हीं को पुरोहित के रूप में जन-साधारण का नेतृत्व करना पड़ता है। इस धर्म-धारणा के लिए मात्र शिक्षण उद्बोधन ही पर्याप्त नहीं होता, वरन अभ्यास के लिए अनेकों रचनात्मक एवं सुधारात्मक आंदोलन खड़े करने होते हैं और उनमें असंख्यों को जुटाकर ज्ञान को कर्म में परिणत करते हुए स्वभाव संस्कार के स्तर तक पहुँचाना होता है ॥ ७०-७७ ॥

ब्राह्मण वह है, जो समाज में सुसंस्कारिता संवर्द्धन के बहुमुखी दायित्व सँभालते हैं। चाहे वह सुकुमार कच्ची मनोभूमि

वाले बालक हों अथवा भिन्न-भिन्न मनः संरचना वाले समाज परिकर का अपार जनसागर। उन्हें स्वयं के श्रेष्ठ आचरण द्वारा शिक्षण करते हुए, वे नैतिक पुनरुत्थान, बौद्धिक क्रांति हेतु जन-नेतृत्व का मोरचा सँभालते हैं।

बहूनि संति कर्माणि यान्याश्रित्य च युज्यते।
शिक्षितुं लोकसेवैषा जगन्मंगलकारिणीः ॥ ७८ ॥
सत्प्रवृत्तीर्विधातुं ताः शुभा अथाग्रगामीनीः।
यथा व्यायामशालास्ताः पाठशालाः कला अपि ॥ ७९ ॥
पुस्तकालय - उद्योगाः कौशलश्रमशालिताः।
हरितक्रांतिरत्रैषा स्वच्छता धेनुपालनम् ॥ ८० ॥
स्वास्थ्यवृद्धिः समारोहास्तथासंगठनादिकम्।
कुरीतिवारणं बालकल्याणं जनजागृतिः ॥ ८१ ॥
महिलामंगलादीनि रचनात्मकरूपतः।
संति ख्यातानि यान्यत्रोद्भाव्यान्यन्यान्पि स्वयम् ॥ ८२ ॥
सर्वाण्येतानि कर्तुं च गतिशीलानि संततम्।
अग्रगामीनि चायांतु व्यवस्थापयितुं समे ॥ ८३ ॥
लोकसेवारता येन वातावरणमुज्ज्वलम्।
सोत्साहं निर्मितं च स्याल्लोको मंगलमाव्रजेत् ॥ ८४ ॥
एष ब्राह्मणवर्गश्च स्वाध्यायोपासनास्विव।
सत्संगेष्विव चैतासु क्रियासु स्याद्रतः सदा ॥ ८५ ॥
सत्प्रवृत्त्यभिवृद्धिश्च संभवेदत्र येन च।
प्रत्येकस्मिंस्तथा क्षेत्रे वर्धमानाश्च याः समाः ॥ ८६ ॥

टीका—पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायामशाला, कला-कौशल, उद्योग-गृह, सामूहिक-श्रमदान, हरीतिमा-संवर्द्धन, गौ-पालन, स्वच्छता-प्रयास, संगठन, समारोह, स्वास्थ्य-संवर्द्धन, कुरीति-निवारण, शिशु-कल्याण, महिलामंगल जैसे अनेकों छोटे-बड़े रचनात्मक कार्य ऐसे हो सकते हैं, जिसके सहारे लोग सार्वजनिक सेवा सीखें और जनमंगल की सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाएँ, इन्हें गतिशील अग्रगामी बनाने एवं व्यवस्था जुटाने में लोकसेवियों को ही आगे रहना पड़ता है। ब्राह्मण-वर्ग को भावना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग की तरह ही एक रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में भी निरत होना पड़ता है ॥ ७८-८६ ॥

सेवा-धर्म के अनेकों रूप हैं। ब्राह्मण व्यक्ति, वंश या वेश से नहीं, अपने अंतः की उदात्तता के कारण बनता है। चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो, समाज में रहकर पीड़ा या पतन निवारण के माध्यम से समग्र मानव समुदाय की सेवा करता रह सकता है। साधना समग्र तब कहलाती है, जब उपासना-सत्संग जैसे धर्म-कृत्यों के साथ स्वयं को ऐसे रचनात्मक कार्यक्रमों से भी जोड़ा गया हो, सत्प्रवृत्ति का वातावरण बनाते हों। इनमें से कई की चर्चा यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन जी ने की है। इन सभी का लक्ष्य एक ही है,

४.१८ प्रज्ञोपनिषद्

सबका कल्याण एवं जन-साधारण में सेवा-भावना के विकास द्वारा आत्मीयता का विस्तार।

भारतीय संस्कृति के दो अग्रदूत भगवान बुद्ध एवं आद्य शंकराचार्य ने अपने जीवन में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन द्वारा ही समाज की बहुमूल्य सेवा की। भगवान बुद्ध ने बुद्धवाद को सर्वोपरि मान्यता दी। उन्होंने अपने युग में प्रचलित भक्ति-भावुकता और तांत्रिक राजमार्ग के उभयपक्षीय अतिवादों से धर्म धारणा को बुरी तरह क्षत-विक्षत देखा और परंपराओं का नए सिरे से पर्यवेक्षण करने के लिए बुद्धिवादी कसौटी जनसमुदाय के हाथ में थमाई। सेवा और संयम की तपश्चर्या अपनाई। आत्मबोध जगाया और मनुष्य से भगवान बन गए। उनसे व्यापक परिमार्जन का धर्मचक्र-प्रवर्तन चलाया। बिहार खड़े किए, सेवाराम विनिर्मित किए, विश्वविद्यालय चलाए और प्रब्रज्या धर्म अपनाने के लिए प्रभाव क्षेत्र में परिपूर्ण प्रेरणा दी। अगणित जीवनदानी नर-नारी उनके आह्वान पर आगे आए और विश्व के कोने-कोने में बौद्धिक क्रांति के लिए, धर्मधारणा प्रतिष्ठित करने के लिए चल पड़े। बुद्ध का यह परम पुरुषार्थ देश की डूबती नौका को उबारने में सफल रहा।

आद्य शंकराचार्य की ऋषिकल्प गतिविधियों में तीर्थ स्थापना प्रमुख है। उनसे देश के चार कोनों पर चार धाम, चार मठ बनाए। उन्होंने अटक से कटक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिए। बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने-समझाने के लिए सभाएँ आयोजित कीं। उन्होंने धर्मप्रचार करने के लिए चिद्विलास, विष्णुगुप्त, हस्तामलक, समित्पाणि, ज्ञानवृंद, भानुगर्भिक, बुद्धि विरंचि, त्रोटकाचार्य पद्मनाभ, शुद्धकीर्ति, मंडन मिश्र, कृष्ण दर्शन आदि देश के उद्भट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की विशाल सेना बनाई गई और संपूर्ण भारत में धर्म सुधार की हलचल मचा दी। उनके इस अखंड प्रयत्न का फल यह हुआ कि जनता के मानस में धर्म संबंधी जो भी भ्रांतियाँ घर कर रही थीं, वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में वैदिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

अवांछनीयतास्ताश्च कर्तुमुन्मूलिताः स्वयम्।

सशक्ताक्रोशसंघर्ष विरोधानामपि स्थितिम्॥ ८७॥

उत्थितां कर्तुमर्हास्ते शास्त्रमेककरे तथा।

शस्त्रं तिष्ठति विप्राणां करे येषां द्वितीयके॥ ८८॥

टीका—हर क्षेत्र में पनपने वाली अवांछनीयताओं का उन्मूलन कर सकने वाला आक्रोश, विरोध एवं संघर्ष खड़ा करना भी उन्हीं का काम है। ब्राह्मण के एक हाथ में शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है॥ ८७-८८॥

जहाँ समाज में श्रेष्ठता है, वहाँ निकृष्टता भी व्यापती है। ब्राह्मण वर्ग का कर्तव्य है अपने मनु को जगाना एवं अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना। मात्र शास्त्र वचनों की दुहाई देनी ही पर्याप्त नहीं, व्यक्ति में दुष्टता के विरुद्ध असहयोग, विरोध एवं संघर्ष कर सकने का साहस भी अपेक्षित है। इसके अभाव में तो वह पुरुषत्वहीन शरीरधारी भर है, जिसका अस्तित्व नहीं के समान है। ब्राह्मण का दायित्व है अपना ही नहीं, सारे समुदाय की रक्षा करना, इसके लिए जनमानस में मनोबल भरना एवं स्वयं अपने कर्तृत्वों द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना।

भ्रमंति नररूपेण पशवो बहवो भुवि।

मनुष्योचितकर्तव्यादर्शयुक्ता भवन्तु ते॥ ८९॥

इत्येव वर्तते मुख्यं लक्ष्यं वै देवसंस्कृतेः।

स्वस्थाश्रमव्यवस्थाऽथ परिष्कृतसुरालयाः॥ ९०॥

तीर्थान्यपि भवन्त्यत्र लक्ष्यस्यास्यैव पूर्तये।

माध्यमैरेभिरेवेयं विश्वं व्याप्नोच्च संस्कृतिः॥ ९१॥

इमान् परिष्कृतान् पूर्णजीवितान् कर्तुमत्र च।

संततमृषिवर्गस्य कार्यमस्ति महत्तरम्॥ ९२॥

इदं ज्ञातव्यमस्माभिः पूर्णरूपेण चांततः।

व्यवस्थित-समाजं च कर्तुमार्गोऽयमस्ति वै॥ ९३॥

टीका—मनुष्य रूप में पशु तो बहुत फिरा करते हैं। उन्हें मनुष्योचित कर्तव्यों, आदर्शों से युक्त रखना देवसंस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। स्वस्थ वर्णाश्रम व्यवस्था, परिष्कृत देवालय एवं तीर्थ तंत्र इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए होती हैं। इन्हीं माध्यमों से देवसंस्कृति विश्वव्यापी बनी थी। इन्हें जागृत और परिष्कृत रखने का कार्य ऋषि तंत्र का ही है और यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि अंततः समाज को व्यवस्थित करने के लिए यही मार्ग है॥ ८९-९३॥

सत्र के समापन पर महर्षि आदर्शनिष्ठा एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की मानवी विकास हेतु अनिवार्यता बताते हुए ऋषितंत्र की भूमिका स्पष्ट करते हैं। यही सतयुग का मूलाधार है। देवसंस्कृति के पुनर्जीवन बिना उन मूल्यों की प्रतिष्ठापना किए बिना, यह उच्चस्तरीय लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्रं सांस्कृतिकं चैतत् द्वितीयमेव पूर्ववत्।

सोल्लासं पूर्णतां यातं सानंदमाश्रमे शुभे॥ ९४॥

घोषणायां समाप्तेश्च श्रोतारः सर्व एव ते।

परस्परं नमंतश्च यथाकालं यथाऽऽगतम्॥ ९५॥

नित्यकृत्यानि कर्तुं तु गता उत्साह-संयुताः।

दृढसाहससंकल्पा विधि - कालानुयायिनः॥ ९६॥

टीका—दूसरे दिन का संस्कृति सत्र प्रथम दिन की भाँति बड़े आनंद-उल्लास के वातावरण में समाप्त हुआ। समापन की घोषणा होने पर सभी नमन-वंदन पूर्वक अपने नियत

प्रज्ञोपनिषद् ४.१९

कृत्यों को यथासमय यथावत् करने के लिए चले गए। उनका होती थी। वे समय का मूल्य एवं उचित प्रतिक्रियाओं के उत्साह बढ़ा हुआ था। साहस एवं संकल्प में दृढ़ता प्रतीत महत्त्व को समझ चुके थे ॥ ९४-९६ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते वर्णाश्रम धर्म इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥